Chap- 1

अध्याय प्रथम

सौंदर्यशास्त्र की परिभाषा - क्षेत्र -विस्तार तथा विकास

सौंदर्यशास्त्र का अर्थ- परिभाषा-क्षेत्र-विस्तार-काव्यशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र का अंतर- भारतीय काव्यशास्त्र का विकास- पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र का विकास- सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति का अन्तर ।

:: सौंदर्यशास्त्र का अर्थ- परिभाषा और क्षेत्र-विस्तार ::

हिन्दी में सौंदर्यशास्त्र शब्द अधिक प्राचीन नहीं है। यह अंग्रेजी के 'ऐस्थेटिक्स' (Aesthetics) के आधार पर विकसित हुआ है। पश्चिम में तो परंपरा से 'ऐस्थेटिक्स' को दर्शनशास्त्र की एक शाखा माना जाता रहा है। कला और प्रकृति सौंदर्य इसका मुख्य विषय रहा है। जर्मन दार्शनिक अलेगजेन्डर बाउमगार्टेन(१७१४-६२ ई०) ऐसे पहले विद्वान हैं जिन्होंने सबसे पहले 'एस्थेटिक' शब्द का प्रयोग आधुनिक अर्थ में किया। यही ऐस्थेटिक(Aesthetic)शब्द बाद में 'ऐस्थेटिक्स' (Aesthetics) रूप में चल पड़ा। 'ऐस्थेटिक्स' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'Aisthetikos' से हुई है। जिसका अर्थ है - ऐन्द्रिय संवेदना। 'Aisthetikos' से 'Aesthesis' शब्द बना। और बाद में 'Aesthetic' ~~शब्द बना~~ और अन्त में 'Aesthetics' हीगेल(१७७०-१८३१) ने 'ऐस्थेटिक्स' को ललित कलाओं के दर्शन के रूप में ही स्वीकार किया है।

सौंदर्यशास्त्र की परिभाषा :

अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने सौंदर्यशास्त्र की भिन्न-भिन्न परिभाषायें प्रस्तुत की हैं। कुछ परिभाषायें द्रष्टव्य हैं :- चैम्बर्स शब्दकोश में सौंदर्यशास्त्र को ललित कलाओं का दर्शन माना गया है।[१] एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के अनुसार 'सौंदर्यशास्त्र कलाओं और उनसे सम्बद्ध (मानव) व्यवहार तथा अनुभूति का सैद्धांतिक अध्ययन है। परम्परा के अनुसार यह दर्शन की शाखा है, जिसका प्रयोजन है सौंदर्य तथा कला और प्रकृति में अभिव्यक्त उसके बहुविध रूपों का अध्ययन।[२] हीगेल के मतानुसार सौंदर्यशास्त्र का सम्बन्ध सौन्दर्य के सम्पूर्ण क्षेत्र से है परन्तु स्पष्ट शब्दों में कहें तो सौंदर्यशास्त्र का सम्बन्ध ललित कलाओं के माध्यम से अभिव्यक्त सौंदर्य के साथ है। अन्य माध्यमों से

व्यक्त सौंदर्य के साथ नहीं है।[३] क्रोचे ने सौंदर्यशास्त्र को अभिव्यंजक (निरूपक या कल्पनात्मक) क्रियाओं का विज्ञान माना है।[४] मुनरो सी० बियर्ड्स्ले के शब्दों में विधा के एक अंग- विशेष के रूप में सौंदर्य शास्त्र ऐसे सिद्धान्तों की संहिता है जो आलोचनात्मक वक्तव्यों के स्पष्टीकरण एवं पोषण के लिए बहुत जरूरी होते हैं। अत: सौंदर्य शास्त्र को आलोचना का दर्शन-तत्त्वालोचन माना जा सकता है + + + सौंदर्यशास्त्र का विचार हम एक पृथक् दार्शनिक परिपृच्छा के रूप में करेंगे : इसका सम्बन्ध व्यापक अर्थ में आलोचना की प्रकृति और आधार के साथ है, जैसे कि - आलोचना का सम्बन्ध कलाकृतियों के साथ है।[५] जेम्स ड्रेवर 'सुन्दर और असुन्दर के वैज्ञानिक तथा दार्शनिक अध्ययन' को सौंदर्यशास्त्र कहते हैं।[६]

पाश्चात्य विद्वानों के समान भारतीय विद्वानों ने भी सौंदर्य शास्त्र के सम्बंध में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। डॉ० के० सी० पाण्डेय ने हीगेल और क्रोचे के विचारों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। उनकी धारणा है कि सौंदर्यशास्त्र ललित कलाओं का विज्ञान और दर्शन है।[७] के० एस० रामस्वामी शास्त्री ने सौंदर्यशास्त्र को कला में व्यक्त सौंदर्य का विज्ञान माना है।[८] हरद्वारी-लाल शर्मा ने सौंदर्यशास्त्र को सौंदर्य की शास्त्रीय विवेचना माना है।[९] डॉ० राम-विलास शर्मा का मत है कि सौंदर्यशास्त्र सौंदर्य और उसकी अनुभूति की विवेचना प्रस्तुत करता है।[१०] डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में सौंदर्यशास्त्र ललित कलाओं के रूप में अभिव्यक्त सौंदर्य से सम्बद्ध मौलिक प्रश्नों के तात्विक विवेचन उसके परिणामी सिद्धान्तों की संहिता का नाम है।[११]

संक्षेप में कह सकते हैं कि सौंदर्यशास्त्र कलाओं का तथा संबद्ध व्यवहार-प्रकार और अनुभूति का सैद्धांतिक निरूपण प्रस्तुत करता है।

क्षेत्र-विस्तार :

उपर्युक्त परिभाषाओं पर विचार करने पर विद्वानों के दो वर्ग सामने

Kalpana's

आते हैं । पहला वर्ग हेगल व उनकी विचारधारा से प्रभावित विचारकों का है, जिन्होंने सौंदर्यशास्त्र का सम्बंध ललितकला से माना है । दूसरे वर्ग के विचारकों ने सौंदर्यशास्त्र का सम्बन्ध सौंदर्य से माना है । ~~उसके अनुसार सौंदर्यशास्त्र का सम्बन्ध सौंदर्य से सम्बन्ध है~~ । उनके अनुसार सौंदर्यशास्त्र का विवेच्य विषय उस विशाल सौंदर्य की व्याख्या करना है जो प्रकृति, मानवजीवन और कलाओं में निहित रहता है । इस प्रकार से सौंदर्यशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है । उसके विशाल क्षेत्र के कारण ही उसे तुलनात्मक सौंदर्यशास्त्र भी कहा जाता है । उसे केवल दर्शनशास्त्र व मनोविज्ञान की शाखा मानना सर्वथा असंगत है । चार्ल्स मोरी के अनुसार सौंदर्यशास्त्र मनोविज्ञान की शाखा है ।[१२] बोसांके ने इसे दर्शनशास्त्र की शाखा कहा है ।[१३] यह दोनों मत युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होते । दर्शन-शास्त्र और मनोविज्ञान के समान सौंदर्यशास्त्र की स्वतंत्र सत्ता है । यह भी एक स्वतंत्र शास्त्र है । इसका क्षेत्र- विस्तार सौंदर्य की तरह विशाल है । यह ललित कलाओं के आपसी सम्बन्धों का अध्ययन प्रस्तुत करता है और उनके आभिव्यक्तिक सौंदर्य की भी विवेचना प्रस्तुत करता है । सौंदर्यशास्त्र का सम्बन्ध सौंदर्य के सम्पूर्ण क्षेत्र से है परन्तु कलाओं की विवेचना करने में इसका विशेष महत्वपूर्ण योगदान रहा है ।

भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में अन्तर :

भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र का विकास अलग- अलग परिस्थितियों के अनुरूप हुआ है, इसलिए दोनों में पर्याप्त अन्तर है । इन दोनों शास्त्रों का अध्ययन करने वाले विद्वानों को दो वर्गों में बाँटा गया है । पहला वर्ग उन विचारकों का है जिन्होंने सौंदर्यशास्त्र को काव्यशास्त्र का पर्याय माना है तथा भारत में भी सौंदर्य शास्त्र की सत्ता स्वीकार की है । भारतीय काव्यशास्त्र में तो सौंदर्य पर व्यापक रूप से चर्चा होती रही है । के० एस० रामस्वामी भी

यही धारणा व्यक्त करते हैं कि सौंदर्यशास्त्र का विकास केवल पश्चिमी देशों में ही नहीं हुआ अपितु भारत में भी इसकी परंपरा देखने को मिलती है । इस सम्बन्ध में वाचस्पति गैरोला की मान्यता है कि 'सौंदर्यबोध का जो दृष्टिकोण पश्चिम के विचारकों का रहा है, यदि हम उसकी तुलना भारतीय विचारकों से करते हैं तो लगता है कि पश्चिम की अपेक्षा भारत की सौंदर्य जिज्ञासा अधिक व्यापक एवं अनुभूतिपूर्ण हैं ।[१४] डॉ० फतहसिंह भी सौंदर्य सम्बन्धी विवेचन का प्रारम्भ वेदों से मानते हैं ।[१५]

दूसरा वर्ग उन विचारकों का है जिनकी मान्यता है कि काव्यशास्त्र सौंदर्यशास्त्र की एक शाखा है । काव्यशास्त्र में केवल काव्य का ही विवेचन किया जाता है जबकि सौंदर्यशास्त्र समस्त ललितकलाओं का विवेचन प्रस्तुत करता है । काव्य भी एक ललित कला है । इस प्रकार से काव्य शास्त्र सौंदर्यशास्त्र की एक शाखा है । डॉ० बलदेव उपाध्याय अपने ग्रंथ 'भारतीय साहित्य शास्त्र' में लिखते हैं -' भारतीय काव्यशास्त्र सौंदर्यशास्त्र नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता । सौंदर्यशास्त्र का क्षेत्र काव्यशास्त्र के क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक तथा विशाल है । काव्यशास्त्र तो केवल शब्द के माध्यम से निर्मित कला की ही द्योतना करता है, परन्तु सौंदर्यशास्त्र ललितकलाओं (जैसे भास्कर्य, चित्र तथा संगीत आदि) में निर्दिष्ट चारुत्व को भी अपने क्षेत्र के अंतर्गत करता है । अत: दोनों का पार्थक्य मानना न्यायसंगत है ।'[१६]

सौंदर्यशास्त्र का क्षेत्र काव्यशास्त्र की अपेक्षा व्यापक है । कुप्पू स्वामी ने वामन के ग्रंथ 'काव्यालंकार सूत्र' के आधार पर ही काव्यशास्त्र को सौंदर्यशास्त्र नाम देना चाहा, परन्तु उन्हें हमेशा इस बात की शंका रही कि काव्यशास्त्र सौंदर्यशास्त्र की समस्त विशेषताओं को अपने में समेट नहीं सकता । सामान्यत:

सूक्ष्म तात्विक सिद्धांत परिकल्पन और विश्लेषण काव्यशास्त्र के विषय नहीं हो सकते । [१७]

भारतीय काव्यशास्त्र पर व्याकरण का विशेष प्रभाव रहा है । ध्वनि सिद्धान्त का विकास व्याकरण के आधार पर हुआ है । इसके विपरीत पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में व्याकरण का कोई महत्व नहीं है । डॉ० एस० के० डे इस सम्बंध में लिखते हैं कि संस्कृत काव्यशास्त्र और पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में पर्याप्त अन्तर है । संस्कृत काव्यशास्त्र में व्याकरण पर अधिक बल दिया गया है परन्तु पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र का व्याकरण से कोई सम्बंध नहीं है । एक अन्य अन्तर यह भी बताते हैं कि काव्यशास्त्र में कल्पना को उतना महत्व नहीं दिया जाता जितना पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में । इसी प्रकार वह लिखते हैं कि पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में दार्शनिक विवेचन मुख्य होता है जबकि भारतीय काव्यशास्त्र में ऐसा कुछ नहीं होता । [१८]

पश्चिम में सभी ललित कलाओं को महत्व प्रदान किया गया है जबकि भारत में तीन कलाओं- काव्यकला, संगीतकला और वास्तुकला को विशेष महत्व प्रदान किया गया है । मूर्तिकला और चित्रकला का निरूपण वास्तुकला के अंग रूप में किया गया है । इन कलाओं में काव्यकला को सबसे महत्वपूर्ण माना गया है । इस प्रकार से भारत में चित्रकला और मूर्तिकला को वह स्वतंत्र महत्व प्राप्त नहीं है जो कि पश्चिमी देशों में इन दोनों कलाओं को प्राप्त है । इस प्रकार से सौंदर्यशास्त्र सभी कलाओं के विवेचन में सहायक होता है और काव्यशास्त्र केवल काव्य कला के ।

डॉ० के सी० पाण्डेय के मतानुसार पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र के समान भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य से भिन्न कलाओं के विवेचन की प्रवृत्ति नहीं है । [१९]

डॉ० कुमार विमल लिखते हैं `भारतीय काव्यशास्त्र में पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र की तरह सभी ललित कलाओं पर इसलिए विचार नहीं किया जा सका कि संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य की गणना विधा में की जाती रही है और कलाओं की गणना उपविधा में। निश्चय ही, काव्य और कला के इस वर्ग भेद ( ) ने संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों को समग्र ललितकलाओं के विवेचन से पृथक रखा है।`[२०]

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य की आत्मा पर पर्याप्त रूप से विचार हुआ है तथा किसी ने रस को काव्य की आत्मा माना तो किसी ने रीति को को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। इस प्रकार से भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के आत्म तत्व को मुख्य माना गया। परन्तु पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में सौंदर्य के संवेदनात्मक पक्ष पर विशेष बल दिया गया है। डॉ० कुमार ( ) विमल इस विषय में लिखते हैं कि-`भारतीय काव्यशास्त्र में रस, ध्वनि इत्यादि के नाम से काव्य के आत्मतत्व की गवेषणा को प्रधानता दी गयी है, जबकि पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में सौंदर्य के संवेदनात्मक पक्ष को प्रमुखता मिली है। अत: पाश्चात्य कलाशास्त्र में सौंदर्य के संवेदनात्मक पक्ष का विवेचन अधिक हुआ है। सौंदर्यशास्त्र के यूरोपीय अभिधान `ऐस्थैटिक का अनुषंग ऐन्द्रिय और संवेदनामय अधिक है। काण्ट ने संवेदनाओं के दार्शनिक विवेचन को ही `एस्थैटिक` का नाम दिया है। इसलिए एक व्यापक शास्त्र के अभिधान के रूप में स्वीकृत हो जाने पर भी आज तक `एस्थैटिक` शब्द का संवेदनात्मक अनुषंग अवशिष्ट है। फलस्वरूप, अधिकांश पाश्चात्य कला-विचारक अद्यावधि कला में व्यक्त सौंदर्य के संवेदनात्मक पक्ष को अधिक महत्व देते हैं, जिसे हम एक विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में भारतीय काव्य-शास्त्र में नहीं पाते।`[२१]

इस प्रकार से भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास काव्य की आत्मा `रस`

की खोज का इतिहास है, जबकि पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र विभिन्न कलाओं के प्राण बिन्दु सौंदर्य के चिन्तन का शास्त्र है ।

भारतीय काव्यशास्त्र का विकास :

भारतीय काव्यशास्त्र के विकास की एक सुदीर्घ और सुदृढ़ परम्परा प्राचीन समय से आज तक निरंतर चली आ रही है । पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र के समान इसका विकास भी परिस्थितियों के अनुरूप धीरे- धीरे हुआ है तथा इसके विकास में महान विद्वानों ने अपना योगदान दिया है । इसका प्रारम्भ ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से माना जाता है । काव्यशास्त्र पूर्णरूप से स्वतंत्र शास्त्र के रूप में ईसा की पाँचवीं शताब्दी के आस-पास से प्राप्त होता है ।

भारतीय काव्यशास्त्र में अनेक विषयों पर चर्चा हुई है जैसे- काव्य - प्रयोजन तथा काव्य-उद्देश्य, काव्य-परिभाषा, काव्य-भेद, काव्यात्मा आदि । काव्यात्मा के विषय में तो प्राय: विद्वानों में मतभेद रहा है तथा इसके सम्बन्ध में अलग- अलग मत प्रस्तुत किए गए हैं तथा विभिन्न संप्रदायों की स्थापना भी की गई है जैसे- अलंकार संप्रदाय, औचित्य संप्रदाय, रीति संप्रदाय, वक्रोक्ति- संप्रदाय, ध्वनि संप्रदाय और रस संप्रदाय । इन सबमें रस संप्रदाय ही सबसे महत्वपूर्ण है । भरत मुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक प्रत्येक आचार्य ने इसकी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है ।

भारतीय काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रंथ आचार्य भरत मुनि(विक्रम पूर्व द्वितीय शतक से द्वितीय शतक विक्रमी तक) का नाट्यशास्त्र माना जाता है । नाट्यशास्त्र में नाटक के विवेचन के साथ-साथ काव्यशास्त्र से सम्बंधित बहुत सी महत्वपूर्ण बातों का भी उल्लेख मिलता है । इसमें अलंकार, रस, काव्य दोष, काव्य गुण,

ललित कलाओं के रूपों, भेदों और उनके शिल्प पर भी चर्चा की गयी है। इन्होंने पहली बार रस की विस्तृत और व्यवस्थित चर्चा की है। यही कारण है कि इन्हें रस सिद्धान्त का प्रवर्तक माना जाता है। भरत मुनि रस के सम्बंध में लिखते है :-

विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः[२२] अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इन्होंने रस के महत्व को स्विकार किया है तथा नाटक के सन्दर्भ में ही रस की विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने रस को नाटक का प्राण माना है। भरत मुनि ने अलंकार का वर्णन रस के सहायक रूप में किया है। उपमा, रूपक, दीपक और यमक आदि अलंकारों का उल्लेख भी किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने काव्य के गुण, दोष का भी विवेचन किया है। इनका रस से क्या सम्बंध है इसको भी स्पष्ट किया है।

इस प्रकार से भरत मुनि ने रस-सिद्धान्त की स्थापना की। इनके बाद तो रस सिद्धान्त की परंपरा सी चल पड़ी। अनेक आचार्यों ने इसका विवेचन किया है।

भामह(षाष्ठ शतक का मध्यकाल) :

आचार्य भामह ने रस सिद्धान्त का विरोध किया तथा अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' में पहली बार अलंकारों को महत्व दिया। अलंकार संप्रदाय का प्रवर्तक आचार्य भामह को ही माना जाता है। इन्होंने अड़तीस अलंकारों का उल्लेख किया है और रस को अलंकारों का ही हिस्सा माना है। रस का विवेचन रसवत अलंकार के अंतर्गत ही किया है। इस प्रकार से अलंकार सिद्धान्त में रस गौण बना रहा। इसके अतिरिक्त इन्होंने काव्य लक्षण, काव्य भेद, काव्य साधन, रीति, वक्रोक्ति, गुण, दोष आदि पर भी अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। काव्यशास्त्रियों में भामह ऐसे पहले आचार्य हैं जिन्होंने काव्य के लक्षण की ओर

ध्यान दिया । इन्होंने काव्य के प्रयोजन छह माने हैं (१) धर्म (२) अर्थ (३)काम (४) मोक्ष (५) यश (६) प्रीति ।

दण्डी(सप्तम शतक का उत्तरार्ध) :

दण्डी ने भी रस को महत्व प्रदान नहीं किया परन्तु उन्होंने रस का वर्णन भामह की अपेक्षा अधिक विस्तार से किया है । यह भी अलंकारवादी आचार्य थे । इन्होंने अपने ग्रंथ काव्यादर्श में अतिशयोक्ति को अलंकारों का मूल माना है । इनकी भी यही मान्यता है कि अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाते हैं । इनका अलंकार शब्द व्यापक अर्थ लिए हुए हैं । उसमें ही रीति, रस, अलंकार आदि तत्व सम्मिलित हैं जिसके द्वारा काव्य की शोभा बढ़ती है । इन्होंने भी भामह के समान रस का उल्लेख रसवत् अलंकार के अंतर्गत किया है । इन्होंने आठ रसों की चर्चा की है । इसके अतिरिक्त दण्डी ने काव्य के स्वरूप, काव्य के भेद, काव्य हेतु, काव्य गुण, काव्य दोष आदि की चर्चा करते हुए काव्य मार्गों का भी उल्लेख किया है । इन्होंने मधुर गुण का सम्बंध रस से माना है ।

उद्भट(नवम् शतक का पूर्वार्ध) :

उद्भट का ग्रंथ 'काव्यालंकार सार- संग्रह' है । इसमें इन्होंने भामह और दण्डी के समान अलंकारों को ही महत्व प्रदान किया तथा इकतालीस अलंकारों का वर्णन किया है । इनकी सबसे महत्वपूर्ण देन है कि इन्होंने अलंकारों को छह वर्गों में बाँटा है । इनकी दृष्टि से अलंकार प्रधान तत्व है और रस गौण । इन्होंने रस का बहुत ही संक्षिप्त विवेचन किया है । रस को रसवत् अलंकार के अंतर्गत ही माना है । इन्होंने भामह का अनुसरण किया है,भरत का नहीं । रसों की संख्या नौ मानी है ।

वामन (समय-लगभग ८०० ई०) :

आचार्य वामन ने अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के समान अलंकारों को अधिक महत्व नहीं दिया अपितु गुणों को अधिक महत्वपूर्ण माना है। वामन रीतिवादी आचार्य थे। इनके अनुसार रीति काव्य की आत्मा है। इन्होंने रीति का प्राणभूत तत्व गुणों को माना है। रस को इन्हीं गुणों के अन्तर्गत माना है। वामन ने रसों को भी कान्ति गुण के अन्तर्गत सम्मिलित करके रीति का ही अंग बना दिया है। इस प्रकार से वामन के समय तक भी रस को प्रधान तत्व नहीं माना गया। इन्होंने काव्य के दो प्रयोजन बताये हैं (१) कीर्ति और (२) प्रीति (आनन्द)। इसके अतिरिक्त काव्य के अधिकारी, काव्य के अंग, काव्य के भेदों पर भी विचार किया है।

रूद्रट(नवम् शताब्दी का आरम्भ) :

रूद्रट अलंकारवादी आचार्य थे परन्तु फिर भी इन्होंने रस के प्रति आदर का भाव व्यक्त किया है। रूद्रट ने अपने ग्रंथ `काव्यालंकार` में स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि काव्य में रस का होना बहुत ही जरूरी है। इन्होंने नौ रसों के अतिरिक्त एक अन्य प्रेयस रस का भी उल्लेख किया है। अलंकारों की संख्या बढ़ाकर छ्यासठ तक पहुँचा दी और अलंकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण भी उपस्थित किया है। इन्होंने काव्य-प्रयोजन, काव्य हेतु पर भी विचार किया है।

आनन्दवर्धन(नवी शताब्दी का आरम्भ) :

रूद्रट के बाद अलंकारों को विशेष महत्व नहीं दिया गया अपितु उसके स्थान पर ध्वनि संप्रदाय ने महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण किया। आचार्य आनन्द वर्धन ध्वनि संप्रदाय के प्रवर्तक हैं। इनका ग्रंथ `ध्वन्यालोक` है। इन्होंने ध्वनि को

काव्य की आत्मा स्वीकार किया तथा इसके तीन भेद माने हैं (१) रस ध्वनि (२) अलंकार ध्वनि (३) वस्तु ध्वनि । सब ध्वनियों में से रस ध्वनि को ही श्रेष्ठ मानते हुए रस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की । इस प्रकार से ध्वनि के अन्तर्गत ही रस का भी विवेचन किया है । इन्होंने रस विरोधी तत्वों का भी उल्लेख किया है ।

भट्टलोल्लट(नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) :

भट्टलोल्लट भरत के रससूत्र के प्रथम व्याख्याकार हैं । इनका कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है । इसलिए मम्मट के 'काव्यप्रकाश' और अभिनव गुप्त के ग्रन्थ 'अभिनव भारती' से ही इनके रस सम्बन्धी विचारों का पता चलता है । इनके विचार बहुत कुछ भरत से मिलते जुलते हैं । उन्होंने भरत मुनि द्वारा प्रस्तुत रस सूत्र को स्वीकार किया और उसकी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की । रस के बारे में उन्होंने नयी महत्वपूर्ण बातें प्रस्तुत की हैं । इन्होंने रस का भाव के साथ प्रत्यक्ष और घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया । इनके विचार से - तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरूपचितो रस : ।[२३]

अर्थात् विभावादि से उपचित भाव ही रस है । डॉ० नगेन्द्र के अनुसार- 'भट्टलोल्लट ने रस के विषय में दो महत्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं पहली वासना के आवेश के कारण नट में भी रस तथा भावों की अनुभूति सम्भव होने से नट को भी रसास्वाद कर्ता मानना चाहिए । दूसरी मूलत: रस अनंत है, किन्तु नटों में प्रसिद्ध होने के कारण नाटक में आठ रसों का ही प्रयोग करना चाहिए ।'[२४]

आचार्य शंकुक(नवीं शताब्दी मध्य) :

आचार्य शंकुक भरत सूत्र के दूसरे व्याख्याकार हैं । इन्होंने न्याय - दर्शन

के आधार पर भरत के सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत की है । इनका अभी तक कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं है । 'अभिनव-भारती', 'ध्वन्यालोक-लोचन', 'काव्यप्रकाश' नामक ग्रंथों से ही इनके मत का पता चलता है । इन्होंने रस विवेचन में अनुकरण पर बहुत अधिक जोर दिया है । इन्होंने रस को अनुकृति कहा है । इनके अनुसार जब नट विभावादि का अनुकरण करने में सफल हो जाता है, स्थायीभाव की अनुकृति रस को प्रस्तुत कर देती है और उस की निष्पत्ति हो जाती है । डॉ० निर्मला जैन शंकुक के विषय में लिखती हैं कि- 'शंकुक का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यही है कि उन्होंने रसानुभूति में अभिनय-तत्व के महत्व की प्रतिष्ठा की । दूसरी सिद्धि उनकी यही थी कि उन्होंने अनुकार्य-रूप ऐतिहासिक पात्रों और कवि निबद्ध पात्रों का अन्तर स्पष्ट किया और लोल्लट द्वारा प्रचारित तत्सम्बंधी भ्रान्ति का निराकरण किया और इस प्रकार एक और सिद्धि की ।'[२५]

भट्टनायक(दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध) :

भरत मुनि के रस सूत्र की व्याख्या करने में भट्टनायक तीसरे हैं । इन्होंने ध्वनि सिद्धान्त का कड़ा विरोध किया । इनके रस सम्बन्धी विचार 'अभिनव-भारती', 'ध्वन्यालोक लोचन' और 'काव्य प्रकाश' आदि ग्रंथों में मिलते हैं । इन्होंने भट्टलोल्लट और शंकुक की स्थापनाओं का खण्डन किया । भट्टनायक की मान्यता है कि रस की उत्पत्ति, प्रतीति या अभिव्यक्ति नहीं होती बल्कि रस की 'भुक्ति' होती है । इसलिए इनके मत को भुक्तिवाद कहा जाता है । इस रस की भुक्ति को समझाने के लिए उन्होंने अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व नाम के तीन व्यापारों की परिकल्पना की है । आचार्य भट्टनायक ऐसे पहले आचार्य हैं जिन्होंने सामाजिक को होनेवाली रसानुभूति पर चर्चा की है । उनके अनुसार रस की प्रतीति दो प्रकार की होती है । प्रत्यक्ष और परोक्ष । सामाजिक को रस की न तो परोक्ष प्रतीति होती है और न ही प्रत्यक्ष ।

रस के अतिरिक्त इन्होंने साधारणीकरण सिद्धान्त की भी व्याख्या प्रस्तुत की है।

अभिनव गुप्त(दशम् शतक का अन्त > एकादश शतक का आरंभ) :

यह भरत मुनि के रस सूत्र के चौथे व्याख्याता हैं। इन्होंने शैवाद्वैत के आधार पर रस की व्याख्या प्रस्तुत की है। रस विवेचन की दृष्टि से इनके ग्रंथ 'अभिनव-भारती' और 'ध्वन्यालोक लोचन' बहुत महत्वपूर्ण हैं। भरत मुनि के रस सूत्र के आधार पर ही अपना रस सम्बंधी मत प्रस्तुत किया है। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का परीक्षण करते हुए उनमें संशोधन किया। भट्टनायक की स्थापनाओं पर अनेक आक्षेप किए तथा अभिव्यक्तिवाद का प्रतिपादन किया। डॉ० निर्मला जैन लिखती हैं - 'अभिनव गुप्त ने पहली बार रसास्वाद के कलात्मक प्रश्न को दृढ़ दार्शनिक आधार भूमि प्रदान की। रसास्वाद को शैवाद्वैत के आधार पर उन्होंने लगभग आत्मास्वाद से अभिन्न घोषित किया। इसी स्थापना का एक शुभ परिणाम यह भी हुआ कि उन्होंने शैव आनन्दवाद के आधार पर रस की एकान्त आनन्द रूपता की स्थापना की। व्यंजना के आधार पर रसानुभूति और अभिव्यक्ति का संश्लिष्ट रूप प्रतिपादित कर एक ओर उन्होंने रस की नितान्त व्यक्तिपरक या आत्मपरक सत्ता का निर्भ्रान्त आख्यान किया। दूसरी ओर अद्वैत-सिद्धांत के आधार पर रस के अन्तरंग एवं बहिरंग को परस्पर सम्बद्ध कर दार्शनिक भित्ति प्रदान की।'[२६]

कुन्तक(दशम् शतक का अन्त-एकादश शतक का आरंभ) :

आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। 'वक्रोक्ति जीवित' इनका महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में काव्य प्रयोजन, कल्पना तथा वक्रोक्ति के विभिन्न भेदों का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। इन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का प्राण

माना है । कुन्तक ने रस के महत्व को भी स्वीकार किया है तथा रस को व्यंग्य माना है । रस को उन्होंने वक्रोक्ति का एक अंग माना है ।

भोजराज(ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) :

भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में भोजराज का भी विशेष योगदान रहा है । इनके दो महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं -`सरस्वती-कण्ठाभरण` और `श्रृंगार प्रकाश`। इन दोनों ग्रंथों में काव्यशास्त्र से सम्बंधित बहुत सी बातों का उल्लेख किया गया है । उन्होंने रस के बारह भेद माने हैं - जैसे- श्रृंगार, वीर, करुण, ~~रौद्र~~ रौद्र, अद्भुत, भयानक, वीभत्स, हास्य, प्रेयान्, शान्त, दान्त(उदात्त) और उद्धत । इनकी धारणा है कि एकमात्र रस श्रृंगार है । उससे ही अन्य रस उत्पन्न होते हैं ।

आचार्य क्षेमेन्द्र(ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) :

ग्यारहवीं शताब्दी में ही आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य सिद्धान्त की शुरूआत की । इनका ग्रंथ `औचित्य विचार चर्चा` है । मूलत: यह भी रसवादी आचार्य ही थे । इन्होंने रस को काव्य की आत्मा माना है और औचित्य को रस का जीवितभूत (जीवन) ।

आचार्य मम्मट(ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) :

`काव्यप्रकाश` इनका महत्वपूर्ण ग्रंथ है । इन्होंने रस को काव्य का महत्वपूर्ण तत्व माना है । आचार्य मम्मट ने अपनी पूर्ववर्ती रस सम्बंधी मान्यताओं को सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया । इन्होंने अभिनव गुप्त के मत की विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत की । इनकी मान्यता है कि दोषरहित, गुण सहित, अलंकार सहित या रहित शब्दार्थ आदि काव्य हैं । इन्होंने काव्य के तीन भेद माने । उत्तम, मध्यम और अधम। ध्वन्यर्थयुक्त काव्य को सबसे उत्तम माना है । ध्वनि के

असंलक्ष्य क्रमव्यंग्य नामक भेद के अन्तर्गत ही इन्होंने रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि का अंतर्भाव किया है । इनकी मान्यता है कि ध्वनि से अलग रस का कोई अस्तित्व नहीं है । मम्मट ने काव्य के छह प्रयोजन माने हैं । इन्होंने काव्य दोष, काव्य गुण पर भी विचार किया है ।

विश्वनाथ(सन् १३००-१३५० ई०) :

विश्वनाथ रसवादी आचार्य थे । विश्वनाथ का `साहित्य दर्पण` भी भारतीय काव्यशास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रंथ है । इन्होंने रस को काव्य की आत्मा माना । इनसे पूर्व वक्रोक्ति, ध्वनि, अलंकार, औचित्य को काव्य की आत्मा स्वीकार किया जा चुका था । रस का वर्णन तो कई आचार्यों ने किया परन्तु काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय विश्वनाथ को ही है । इनके अनुसार अद्भुत रस मुख्य रस है । शेष सभी रस उसके अंग हैं । इनकी सबसे महत्वपूर्ण देन इनका निम्न वाक्य है - `वाक्यं रसात्मकं काव्यम्` । इनसे पूर्व किसी भी आचार्य ने रस की इस रूप में घोषणा नहीं की । इन्होंने आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त का विरोध किया । काव्य का स्वरूप, काव्य फल, काव्य के रूप आदि पर भी चर्चा की है ।

पंडितराज जगन्नाथ(सत्रहवीं शताब्दी का मध्य भाग) :

इनका प्रसिद्ध ग्रंथ `रसगंगाधर` है । इसमें इन्होंने अभिनव गुप्त, मम्मट के अतिरिक्त अन्य ग्यारह मतों का भी विवेचन प्रस्तुत किया है । यह ध्वनिवादी आचार्य थे परन्तु फिर भी इन्होंने रस के महत्व को स्वीकार किया । इनकी मान्यता है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है और ध्वनि की आत्मा रस । इनके अनुसार ध्वनि काव्य दो प्रकार का होता है (१) अभिधा मूलक(२) लक्षणामूलक । अभिधामूलक तीन प्रकार का है (१) रस ध्वनि(२) वस्तु ध्वनि(३) अलंकार ध्वनि । इसी में रस का विवेचन किया है । इन्होंने काव्य को परिभाषित किया तथा इसके चार भेदों का उल्लेख किया है (१) उत्तमोत्तम(२) उत्तम(३)मध्यम(४)अधम ।

इस प्रकार से भारतीय काव्यशास्त्र की शुरूआत संस्कृत आचार्यों ने की। इन्होंने ही इसकी नींव रखी। पंडितराज जगन्नाथ संस्कृत के अन्तिम आचार्य माने जाते हैं परन्तु इनके पश्चात भी कुछ ग्रन्थ लिखे गये। परन्तु वह प्रसिद्धि न पा सके। इस प्रकार से पंडितराज जगन्नाथ के पश्चात् संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा धूमिल सी पड़ गयी और इसी के साथ हिन्दी काव्यशास्त्र की परम्परा प्रारम्भ हुई। हिन्दी काव्यशास्त्र का प्रथम आचार्य किसको माना जाये ? इसके विषय में तो बहुत ही मतभेद है। वैसे तो कृपाराम (सं० १५९८ वि०) को हिन्दी का प्रथम काव्यशास्त्रीय आचार्य माना जाता है जिन्होंने 'हिततरंगिणी' नामक प्रथम काव्यशास्त्रीय ग्रंथ की रचना की। परन्तु मिश्र बन्धुओं ने 'शिव सिंह सरोज' और डॉ० ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास में एक पुष्य नामक आचार्य का उल्लेख किया है जिसने आठवीं शताब्दी में 'छन्दशास्त्र' नामक ग्रंथ की रचना की। डॉ० भगीरथ मिश्र और डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त का मत है कि इस काल में छन्दशास्त्र नामक ग्रंथ का होना कोई अविश्वसनीय बात नहीं है। परन्तु सातवीं -आठवीं शताब्दी का समय भामह, दण्डी, वामन और उद्भट जैसे आचार्यों का है। इन आचार्यों ने अलंकार, रस, रीति, गुण, वक्रोक्ति आदि पर विचार किया है छन्द पर नहीं। इस काल में संस्कृत के अलावा किसी अन्य भाषा में शास्त्र रचना करने का सवाल ही पैदा नहीं होता। वैसे भी 'छन्दशास्त्र' नामक ग्रंथ उपलब्ध न होने के कारण पुष्य को हिन्दी का प्रथम आचार्य नहीं मान सकते। इस प्रकार से कृपाराम को ही हिन्दी काव्यशास्त्र का प्रथम आचार्य कहलाने का श्रेय प्राप्त है। इनका ग्रंथ 'हिततरंगिणी' हिन्दी काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। इसका रचनाकाल सं० १५९८ वि० है। इनके ग्रंथ से इस बात का ज्ञान होता है कि इनसे पहले भी काव्यशास्त्रीय ग्रंथ लिखे जा चुके थे परन्तु वह सभी ग्रंथ उपलब्ध न होने के कारण इनके द्वारा रचित 'हित-तरंगिणी' को ही हिन्दी काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रंथ कहलाने का श्रेय प्राप्त है। यह भरत मुनि के

Kalpana's

ग्रंथ नाट्यशास्त्र के आधार पर लिखा गया है । `हिततरंगिणी` रस प्रधान काव्य है । इसमें नायिका के दस भेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है । इस प्रकार का विवेचन भानुकृत `रसतरंगिणी` में भी देखने को मिलता है । जबकि भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में अवस्थाओं के अनुसार नायिकाओं के आठ प्रकार स्वीकार किए गए हैं ।

कृपाराम की `हिततरंगिणी` के पश्चात् सूरदास की `साहित्य लहरी` का भी भारतीय काव्य शास्त्र में अपना ही महत्व है । इस ग्रंथ में नायिका भेद के साथ-साथ अलंकारों का भी सुन्दर वर्णन किया गया है ।

नंददास ने भी सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में रूपमंजरी, रसमंजरी और विरह मंजरी जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ रचकर काव्यशास्त्रीय परंपरा को आगे बढ़ाया । इनका रचनाकाल संवत् १६२० के आस-पास माना जाता है । रसमंजरी में इन्होंने नायिका भेदों को सुन्दर उदाहरणों के साथ प्रस्तुत किया है । `विरह मंजरी` में इन्होंने वियोग श्रृंगार और उसके विभिन्न भेदों का वर्णन किया है । `रूपमंजरी` एक प्रेमाख्यानक काव्य है ।

इसके पश्चात अब्दुर्रहीम खानखाना का समय आता है जिन्होंने अवधी भाषा में `बरवै नायिका` नामक रीतिग्रंथ लिखा । इस ग्रंथ का रचनाकाल संवत् १६४० वि० माना गया है । इसके अतिरिक्त मोहनलाल मिश्र द्वारा लिखित श्रृंगार-सागर, करनेस कृत कर्णाभरण, श्रुतिभूषण, भूप भूषण, मुनिलाल की रामप्रकाश, बलभद्र के नखशिख और दूषण विचार ग्रंथ भी लिखे गये । परन्तु ये ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। वैसे भी इन ग्रंथों ने भारतीय काव्यशास्त्र को कोई विशेष व्यवस्थित और सुदृढ़ आधार प्रदान नहीं किया ।

भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में सबसे महत्वपूर्ण योगदान आचार्य केशव

(सन् १५५५-१६१७ ई०) ने दिया । इन्होंने पहली बार काव्य के सभी अंगों का व्यवस्थित रूप से वर्णन किया । काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इनके तीन महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं (१) रसिकप्रिया(२)कविप्रिया(३) छंदमाला । `रसिकप्रिया` के अध्ययन करने से इस बात का ज्ञान होता है कि आचार्य केशव रसवादी थे । इसकी रचना उन्होंने रसिकों के लिए ही की थी । उन्होंने स्वयं लिखा है `रसिकप्रिया` की रचना परिपक्व बुद्धि वाले रसिकों के लिए की गई है ।`[२७] इस रचना में इन्होंने विभिन्न रसों का उल्लेख विस्तार से किया है तथा रसों की संख्या नौ बतायी है । रस को काव्य का प्राण तत्व माना है -

जो बिनु डीठि न सोभिजे, लोचन लोल बिसाल,
त्यों ही `केशव` सकल कवि, बिनु बानी न रसाल ।[२८]

रस विवेचन में श्रृंगार रस का विस्तार से विवेचन किया तथा इसे रसराज माना है । श्रृंगार रस के दो भेद माने (१) संयोग(२) वियोग । आगे उनके भी दो-दो भेद प्रस्तुत किए हैं । इसके अतिरिक्त इन्होंने नायक-नायिका भेद का वर्णन किया है ।

`कविप्रिया` भी काव्यशास्त्र की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण रचना है । इसमें इन्होंने कवित्त दूषण(काव्य दोष) , कवि व्यवस्था (कवियों के भेद), काव्य भेद, अलंकारों आदि का उल्लेख किया है ।

केशव के पश्चात् भी काव्यशास्त्रीय ग्रंथ लिखे गये जबकि इनका कोई विशेष महत्व नहीं है परन्तु इनसे काव्यशास्त्रीय परंपरा का पता चलता है । संवत् १६५० के बाद मोहनदास का बारहमासा, हरिराम कृत छंद रत्नावली, बालकृष्ण द्वारा रचित रस चन्द्रिका संवत् १६६० में मुबारिक कृत` अलक शतक` ,`तिलक शतक` संवत् १६८८ में कवि सुन्दर द्वारा लिखित `सुन्दर श्रृंगार` आदि ग्रंथ रचे गये ।

इनके पश्चात् चिन्तामणि का समय आता है । इन्होंने काव्यशास्त्रीय परंपरा को महत्वपूर्ण योगदान दिया । इन पर आचार्य मम्मट और आचार्य विश्वनाथ का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है । इन्होंने मम्मट द्वारा दी गयी काव्य की परिभाषा को ही ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है । काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से इनके महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं काव्य विवेक, कविकुल कल्पतरु, काव्यप्रकाश, पिंगल, रसमंजरी । इन ग्रंथों में छंद, अलंकार, रस, कवि शिक्षा आदि विषयों का उल्लेख किया गया है । इन्होंने रस का विवेचन करते हुए श्रृंगार रस में अपनी रुचि प्रदर्शित की है । इनकी मान्यता है कि विभाव, अनुभाव और संचारी से संयुक्त स्थायीभाव रस रूप में परिणत हो जाता है ।

चिन्तामणि के पश्चात् तोष ने संवत् १६६१ में `सुधा निधि` नाम से महत्वपूर्ण रस ग्रंथ लिखा । इसमें श्रृंगार रस की प्रधानता है । इस रचना में इन्होंने नव रसों, भावों, भावोदय आदि वृत्तियों तथा नायिका-भेद का उल्लेख किया है ।

संवत् १६६४ के आसपास महाराज जसवंत सिंह ने `भाषा भूषण` नामक ग्रंथ की रचना की । इस ग्रंथ में अलंकारों का ही वर्णन मुख्य है । परन्तु फिर भी ग्रंथ के प्रारंभ में रस का वर्णन किया गया है ।

चिन्तामणि के भाई मतिराम ने भी रसराज, ललितललाम, साहित्यसार, अलंकारपंचाशिका, लक्षण श्रृंगार नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की रचना की । रसराज, साहित्यसागर, लक्षण श्रृंगार रस ग्रंथ हैं, जबकि ललितललाम, अलंकारपंचाशिका आदि अलंकार ग्रंथ हैं । `ललितललाम` में सौ अलंकारों और उनके भेदों का उल्लेख किया गया है । रसराज में श्रृंगार रस और नायक-नायिका भेद का वर्णन है ।

मतिराम के पश्चात् कुलपति ने (सन् १६६७-१६८६ ई० कविताकाल) काव्यशास्त्रीय परम्परा को आगे बढ़ाया । उन्होंने 'रस रहस्य' और 'गुण रहस्य' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की रचना की । 'रस रहस्य' की रचना संवत् १७२७ में की तथा इसमें रस का विवेचन किया गया है । रस के स्वरूप के विषय में लिखते हैं -

मिलि विभाव अनुभाव अरू संचारी सु अनूप ।
व्यंग्य कियो थिर भाव जो, सोई रस सुख भूप ।। [२६]

इन्होंने काव्य के समस्त अंगों का भी वर्णन किया है ।

इसी समय प्रसिद्ध आचार्य महाकवि देव का समय(सन् १६६०-१७३४ ई० कविता काल) आता है । ये रसवादी आचार्य थे । काव्यशास्त्रीय दृष्टि से इनके महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं रसविलास, भामिनी विलास, भाव विलास, काव्य रसायन आदि । रस से सम्बंधित विचार रसविलास और भामिनीविलास में मिलते हैं । काव्य विलास में काव्य के विभिन्न अंगों का उल्लेख है । भावविलास में रस, अलंकार और नायिका भेद का वर्णन है । महाकवि देव ने भी श्रृंगार रस को रसराज माना है तथा सभी रसों का सार भी स्वीकार किया है । उनके अनुसार रस का स्वरूप इस प्रकार से है -

जो विभाव अनुभाव अरू, विभिचारिन करि होई ।
थिति की पूरनवासना, सुकवि कहत रस सोई ।। [३०]

उनके अनुसार सभी रस इसी श्रृंगार रस से ही उत्पन्न और विलीन होते हैं । उन्होंने रस के दो भेद माने हैं (१) लौकिक और(२) अलौकिक ।

महाकवि देव के बाद सूरति मिश्र, कुमार मणिभट्ट, श्रीपति, सोमनाथ, रसलीन, उदयनाथ, भिखारीदास, रतनकवि, पद्माकर, रसिक गोविंद, प्रतापसाहि

आदि महान आचार्य हुए जिन्होंने महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे ।

सूरति मिश्र ने अलंकार माला, रस रत्नमाला, रसग्राहक चंद्रिका, काव्य-सिद्धांत, रस रत्नाकर नामक ग्रंथ लिखे । इनके ग्रंथ अलंकार और रस से सम्बंधित हैं । 'काव्य सिद्धांत' तो इनका बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है इसमें इन्होंने काव्य के सभी अंगों का वर्णन किया है । कुमार मणि भट्ट ने संवत् १७७६ में 'काव्यप्रकाश' के आधार पर 'रसिक रसाल' नामक ग्रंथ लिखा । इसमें काव्य के सभी अंगों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है ।

श्रीपति (समय सन् १७२० ई०)(कविताकाल) ने कविकुल कल्पद्रुम, रससागर, अनुप्रास विनोद, विक्रमविलास, सरोजकलिका, अलंकार गंगा, काव्य सरोज आदि ग्रंथों की रचना की । काव्य सरोज इनमें सबसे महत्वपूर्ण है । इसमें काव्य के सभी अंगों का विवेचन है ।

सोमनाथ(समय सन् १७३३-१७५३ ई० (कविताकाल) ने 'रसपीयूषनिधि' की रचना की । 'रसपीयूषनिधि' में इन्होंने काव्यलक्षण, काव्य प्रयोजन, काव्य-भेद, शब्द शक्तियाँ, रस, ध्वनि, अलंकार, काव्य दोष और काव्य गुण आदि का एक साथ विवेचन प्रस्तुत किया है ।

रसलीन ने संवत् १७९८ में 'रस प्रबोध' नामक ग्रंथ लिखा । रस के विषय में लिखते हैं -

जब विभाव अनुभाव अरु व्यभिचारी मिलि आन ।
परिपूरन व्यापी जहाँ उपजे सो रस जानि ।।[३१]

इन्होंने नौ रसों और साथ में उसके उपादानों का भी विस्तार पूर्वक वर्णन किया है ।

इसी समय आचार्य भिखारीदास (समय-सन् १७२८-१७५० ई० (कविताकाल)

Kalpana'9

ने `रस सारांश` `श्रृंगार निर्णय` `काव्य निर्णय`, आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ लिखे । `काव्य निर्णय` इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है । इसमें इन्होंने काव्य के सभी अंगों का उल्लेख किया है । `श्रृंगार निर्णय` में श्रृंगार रस का विवेचन किया गया है । इन्होंने रस को काव्य का अंग माना है -

रस कविता को अंग, भूषन है भूषन सकल ।
गुन सरूप औ रंग, दूषन करैं कुरूपता ।।[३२]

इसके पश्चात् पद्माकर, बेनी प्रवीन, रसिक गोविंद और प्रताप साहि जैसे प्रसिद्ध आचार्यों ने काव्य शास्त्र को महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया । पद्माकर की काव्यशास्त्र से सम्बंधित दो रचनायें हैं - `जगत-विनोद` (सं० १८६७) और `पद्माभरण` (सं० १८६७के आसपास) । `जगत-विनोद` में रस, भाव, नायिका भेद का विवेचन है जबकि `पद्माभरण` में अलंकारों का विस्तार से वर्णन किया गया है । रसिक गोविंद के `रसिक गोविंदानन्दघन` में भी काव्यशास्त्र के सभी अंगों का वर्णन किया गया है । प्रतापसाहि(समय सन् १८२३-१८४३ ई० (कविताकाल) ने भी काव्यशास्त्र से सम्बंधित ग्रंथ लिखे जैसे काव्य विनोद, काव्य विलास, श्रृंगार मंजरी, व्यंग्यार्थ कौमुदी आदि । इनमें काव्यशास्त्र के सभी अंगों का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया गया है । `व्यंग्यार्थ कौमुदी` में अलंकार और नायिका भेद का उल्लेख किया गया है । `काव्य विलास` के अन्तर्गत ध्वनि का विस्तृत वर्णन है । `काव्य विलास` में इन्होंने रस को व्यंग्य कहा है -

मिलि विभाव अनुभाव मिलि मिलि संचारी भाव,
व्यंग्य होत थाई तहाँ रस कैहि सो कविराव ।।[३३]

इसी के पश्चात् संवत् १९०० से आधुनिक काल की शुरूआत होती है ।

परन्तु ब्रजभाषा के रीति ग्रंथों की परंपरा समाप्त नहीं हो जाती अपितु रामदास कृत `कविकल्पद्रुम` (संवत् १६०१), चन्द्रशेखर बाजपेयी द्वारा लिखित `रसिक विनोद` (सं० १६०३) ग्वाल कवि का रस (संवत् १६०४) लेखराज का `गंगाभरण (सं०१६३५) आदि ग्रंथ लिखे गये। महाराजा प्रतापनारायण सिंह कृत `रस-कुसुमाकर` (संवत् १६६१) में रस का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में संवत् १६०० से १६५७ तक का समय आधुनिक काल का भारतेन्दु युग कहलाता है। हिन्दी में गद्य साहित्य की शुरूआत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही मानी जाती है। इन्होंने रस का स्वतंत्र रूप से विवेचन प्रस्तुत नहीं किया अपितु `नाटक` नामक निबंध में रस और रसास्वादन के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। इनके अतिरिक्त जगन्नाथ प्रसाद भानु, बिहारीलाल भट्ट, कन्हैयालाल पोद्दार, हरिऔध, मिश्र बन्धु और महावीर प्रसाद द्विवेदी ने रस सम्बंधी ग्रंथ लिखे। इन्होंने रीतिकालीन आचार्यों का ही अनुकरण किया है। महावीरप्रसाद द्विवेदी (समय सन् १८६४ -१६३८ ई०) ने `रसज्ञ-रंजन` में रस सम्बंधी अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। इन्होंने रस को कविता का सबसे बड़ा गुण माना है। उनकी धारणा है कि अगर कविता सभी गुणों से युक्त है परन्तु रसनीय नहीं है तो वह श्रेष्ठ कविता नहीं है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (समय सन् १८८४-१६४० ई०) ने `रसमीमांसा` और `चिन्तामणि` (भाग प्रथम तथा द्वितीय) ग्रंथ लिखे। इन दोनों ग्रंथों से शुक्ल जी के रस निष्पत्ति और साधारणीकरण सम्बंधी विचारों का पता चलता है।

आचार्य श्यामसुन्दरदास(समय सन् १८७५-१६४५ ई०) का `साहित्यालोचन` काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है। इन्होंने एक ओर विश्वनाथ के समान रस को ब्रह्मानन्द सहोदर माना तो दूसरी ओर रस को काव्य की आत्मा भी माना है। उनके शब्दों

में 'रस कने ही काव्य की आत्मा है और रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के संयोग से होती है । काव्य और कुछ नहीं रसात्मक वाक्य ही है ।'[34]

डॉ० गुलाबराय ने भी काव्यशास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे जैसे- 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'काव्य के रूप', 'नवरस' आदि । इन ग्रंथों को भारतीय काव्यशास्त्र में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । 'नवरस' में नौ रसों का उल्लेख किया है । 'काव्य के रूप' में काव्य के भेदों का विवेचन और हिन्दी साहित्य में उनका विकास प्रस्तुत किया है ।

छायावादी कवियों जैसे जयशंकर प्रसाद (समय-सन् १८८९-१९३७ ई०), सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानंदन पंत और महादेवी वर्मा ने भी इस परंपरा में महत्वपूर्ण योगदान दिया ।

भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में डॉ० नगेन्द्र के योगदान को भी भुलाया नहीं जा सकता । डॉ० नगेन्द्र ने 'रससिद्धांत' नामक ग्रंथ लिखा । इन्होंने रस निष्पत्ति, रसानुभूति और साधारणीकरण सम्बंधी अपने विचार प्रस्तुत किए । डॉ० निर्मला जैन इनके रस विवेचन के विषय में लिखती हैं - 'डॉ० नगेन्द्र की विचारधारा में आचार्य शुक्ल और जयशंकर प्रसाद की रस विषयक व्याख्याओं का एक विशेष ढंग से समन्वय प्राप्त होता है । प्रसाद जी ने रस की जो व्याख्या दर्शन के आधार पर प्रस्तुत की थी, डॉ० नगेन्द्र ने उसी व्याख्या को मनोवैज्ञानिक धरातल प्रदान किया । इस प्रकार उन्होंने शुक्ल जी का आधार और प्रसाद जी की व्याख्या अपनाई ।'[35]

डॉ० नगेन्द्र के पश्चात् डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ० कृष्णदेव भारी, डॉ० नामवर सिंह, डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने काव्यशास्त्र

kalpana's

की परंपरा को आगे बढ़ाया । डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त का 'रस सिद्धांत' का पुनर्विवेचन' काव्यशास्त्रीय दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रंथ है । डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने आचार्य भरत मुनि से लेकर डॉ० नगेन्द्र तक के सभी आचार्यों के रस सम्बंधी विचारों की स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है ।

इस प्रकार से भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा अत्यंत सुदृढ़ है ।

पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र का विकास :

पाश्चात्य विद्वानों ने अत्यन्त प्राचीनकाल से ही काव्य तथा कलाकृतियों में निहित सौंदर्य तत्व पर विचार करना प्रारंभ कर दिया था । पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र का विकास किसी एक देश में नहीं हुआ अपितु यूरोप के कई देशों ने इसमें योगदान दिया है । यूरोप में समय-समय पर अलग- अलग विचारधाराओं ने जन्म लिया । जिसके परिणामस्वरूप ही इसका विकास सम्भव हो पाया । इसकी शुरूआत ग्रीक से मानी जाती है । ग्रीक विद्वानों ने विभिन्न कलाओं जैसे भाषण-कला, काव्य कला, संगीत कला, मूर्ति कला और नाट्य कला आदि के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किए और इनका विकास भी किया । ग्रीक के पश्चात् रोम, इंगलेण्ड, फ्रांस, जर्मनी, रूस और अमेरिका आदि देशों में इसका विकास हुआ । निम्नलिखित विवेचन के द्वारा पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र के विकास को अच्छी तरह से समझा जा सकता है ।

आरम्भकाल - प्लेटो(४०७ ई०पू०-३४७ ई०पू०)

प्लेटो विश्वविख्यात दार्शनिक थे । वे प्रसिद्ध विद्वान सुकरात के शिष्य थे । डॉ० अरविंद पाण्डेय इनके विषय में लिखते हैं कि-'प्लेटो के सिद्धांत आज भी पाश्चात्य विचारकों की धारणाओं को प्रभावित करते हैं । पिछले लगभग पच्चीस

सौ वर्षों से उनकी वैचारिक परम्परा किसी न किसी रूप में विकसित होती हुई चली आ रही है।[36] ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाएँ इनकी आभा से आलोकित हो उठी थीं। पाश्चात्य जगत में कला सम्बंधी विवेचन की शुरूआत वास्तव में प्लेटो से ही मानी जाती है। प्लेटो और अरस्तु से बहुत पहले ग्रीस में इस पर विचार हो चुका था परन्तु ग्रंथबद्ध ग्रंथबद्ध रूप में शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ था। प्लेटो ने नैतिकता पर विशेष रूप से बल दिया। उन्होंने नैतिक और दार्शनिक प्रणाली के अंग रूप में कलाओं पर विचार किया। मानव के जीवन पर कलाओं का क्या प्रभाव पड़ता है। धर्म, दर्शन, राजनीति और आचार शास्त्र आदि में कलाओं को किस प्रकार का स्थान प्राप्त है। इन्होंने कला को दो वर्गों में विभाजित किया है। पहले वर्ग के अंतर्गत उन कलाओं को सम्मिलित किया है - जिनका उद्देश्य केवल मनोरंजन है जैसे संगीत कला और चित्रकला। दूसरे वर्ग के अंतर्गत उन कलाओं को रखा है जिनका उद्देश्य केवल व्यवहारिक उपयोग है जैसे चिकित्सा कला, कृषि कला। इन की मान्यता थी कि सभी कलाएँ अनुकरण करती हैं इसलिए वे एक दूसरे से सम्बंधित हैं। प्लेटो ने काव्य और कला पर विस्तार से चर्चा नहीं की अपितु उसके कुछ प्रश्नों पर ही विचार किया है। उन्होंने पहली बार काव्य की सामाजिक उपयोगिता का प्रश्न उठाया और आदर्श काव्य को सामाजिक कल्याण के साथ सम्बंधित माना। प्लेटो ने त्रासदी द्वारा प्राप्त होनेवाले दर्शक के सुख की विवेचना भी की है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने काव्य विवेचन में अनुकरण शब्द का प्रयोग किया तथा उसकी विस्तार से व्याख्या करते हुए उसके अर्थ को स्पष्ट किया। प्लेटो ने माना कि कवि अनुकरण का अनुकरण करता है इसलिए उसकी कृति सत्य से बहुत दूर होती है। इन्होंने अनुकरण का अर्थ हू बहू नकल करने के अर्थ में किया। अरस्तु के अनुकरण सिद्धांत की भूमिका के रूप में प्लेटो का अनुकरण सम्बंधी विवेचन बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। इस प्रकार से प्लेटो ने पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र की नींव डाली।

dalpaa's

अरस्तु(३८४ ई०पू०-३२२ ई०पू०)

अरस्तु भी अपने गुरू प्लेटो के समान प्रतिभाशाली थे । इन्होंने प्लेटो के पश्चात सौंदर्यशास्त्र को प्रौढ़ता प्रदान की । अरस्तु को पाश्चात्य काव्यशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र का आद्य आचार्य कहा जाता है क्योंकि इन्होंने काव्य और कला की व्यवस्थित और क्रमबद्ध व्याख्या की । इनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य काव्य और कला को राजनीति, धर्म, आचारशास्त्र आदि से मुक्त कराकर उस पर स्वतंत्र दृष्टि से विचार करते हुए गौरव प्रदान करना है । दूसरी उपलब्धि यह है कि इन्होंने अपने विवेचन को अपने गुरू प्लेटो के विचारों से निर्धारित नहीं होने दिया । उन्होंने काव्य विवेचन की मूल दृष्टि-दर्शनाश्रित दृष्टि को त्याग कर काव्याश्रित दृष्टि का उपयोग किया जिसके परिणामस्वरूप इनका काव्य विवेचन अधिक महत्वपूर्ण माना गया । अरस्तु से पहले प्लेटो कलाओं का त्याग इस आधार पर कर चुके थे कि कलाओं का मनुष्य के मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है । अरस्तु ने प्लेटो की इस मान्यता को असत्य ठहराकर काव्य का सम्बंध आनन्द से स्थापित किया ।

प्लेटो के तुरन्त बाद में अरस्तु ने अनुकरण की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया तथा जिस अनुकरण की प्रवृत्ति के आधार पर प्लेटो ने काव्य का विरोध किया था, उसी प्रवृत्ति के आधार पर अरस्तु ने काव्य के महत्व को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया । प्लेटो के समान अरस्तु की भी यही धारणा है कि कला अनुकरण है । अरस्तु से पहले प्लेटो ने धारणा व्यक्त की थी कि कवि या कलाकार बाह्य जगत की वस्तुओं का अनुकरण प्रस्तुत करता है किन्तु अरस्तु ने माना कि कवि या कलाकार प्रकृति की गोचर वस्तुओं का नहीं अपितु प्रकृति की सर्जन प्रक्रिया का अनुकरण करता है ।

अरस्तु ने विरेचन सिद्धांत भी प्रस्तुत किया परन्तु इसकी विस्तृत व्याख्या

नहीं की । इन्होंने नाटक के विभिन्न भेदों पर भी विस्तार से चर्चा की है । त्रासदी की तो इन्होंने विस्तृत समीक्षा की है । अन्य काव्य रूपों जैसे कामदी, महाकाव्य आदि पर भी विचार किया है । महाकाव्य की व्यवस्थित परिभाषा नहीं दी । इन्होंने महाकाव्य के चार मूल तत्व माने हैं । कामदी, महाकाव्य आदि के विवेचन को त्रासदी के विवेचन के संदर्भ में ही प्रस्तुत किया है । कहीं पर उनका त्रासदी से भेद दिखाया है तो कहीं पर त्रासदी से उनकी समानता का उल्लेख किया है । इन्होंने त्रासदी को महाकाव्य तथा कामदी से श्रेष्ठ माना है । इनके अनुसार त्रासदी के छः तत्व हैं (१) कथावस्तु(२) चारित्र्य (३) पद रचना(४) विचार-तत्व (५) दृश्य-विधान(६) गीत । इन सबकी उन्होंने विस्तृत चर्चा की है । इन छः तत्वों में से कथा वस्तु को सबसे महत्वपूर्ण माना है । अरस्तु का मत है कि अन्य सभी तत्व कथावस्तु पर ही निर्भर होते हैं ।

उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए बहुत से विचार विवादास्पद हैं परन्तु फिर भी पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र के विकास में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है । अरस्तु ने काव्यशास्त्र में जो सिद्धान्त प्रस्तुत किए वह आज भी पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में मेरुदण्ड है । डॉ० पुष्पा बंसल लिखती हैं-`प्लेटो और अरस्तु ने मिलकर पाश्चात्य काव्यशास्त्र की नींव डाली । प्लेटो ने अपनी गहन सिद्धान्त निरूपण प्रतिभा के बल पर सैद्धांतिक समीक्षा का सूत्रपात किया तो अरस्तु ने अपनी विश्लेषणात्मिका एवं व्यवहारिक प्रतिभा के द्वारा व्यव- व्यावहारिक समीक्षा का । प्लेटो ने यूरोप को मौलिक विचारणा की प्रवाहिनी प्रदान की और अरस्तु ने काव्य का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण, अत्यधिक तात्विक विभाजन एवं वर्गीकरण । अरस्तु ने नाट्यकला सम्बंधी कुछ नियमों का भी निर्देश किया, जिनके आधार पर आगे चलकर यूरोप में `संकलन त्रय` से सम्बंधित विवाद उठ खड़ा हुआ । कलाओं के जो भेद एवं काव्य के जो विविध रूप(आख्यानक, गीति, नाट्य आदि) उसने बताए, उनके आधार पर यूरोप में व्यावहारिक एवं तुलनात्मक आलोचना का

भवन उठ खड़ा हो गया । शैली, संगीत, भाषा एवं शब्द को जो विशद् विवेचन अरस्तु ने प्रस्तुत किया, वह आगे चलकर यूरोपीय समीक्षा के रीतिवाद का आधार बना । काव्य के बहिरंग का अत्यधिक विवेचन उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी की समीक्षा को छोड़कर समस्त पाश्चात्य आलोचना का मुख्य स्वर रहा है, जिसका कारण अरस्तु के काव्य विवेचन में ढूंढ़ा जा सकता है ।' [37]

लौंजाइनस(तीसरी शताब्दी) :

प्लेटो और अरस्तु के बाद लौंजाइनस यूनान के प्रसिद्ध विद्वान थे । इनका काल ईसा की तीसरी शताब्दी माना जाता है । इन्होंने 'ऑन दी सब्लाइम' नामक पुस्तक लिखी जिसके लिए यह बहुत ही प्रसिद्ध हैं । इन्होंने कामदी, त्रासदी तथा महाकाव्य के अतिरिक्त शैली के तत्वों का भी विवेचन किया है । उदात्त तत्व ही प्रमुख हैं । लौंजाइनस ने उदात्त तत्व की परिभाषा तो नहीं दी परन्तु उसकी व्याख्या से उसके स्वरूप का पता चल जाता है । उन्होंने उदात्त के पाँच स्रोत बतलायें हैं(१) उच्च विचार या भाव(२) तीव्र, उत्तम संवेदना(३)भाव और भाषा को समुचित रूप देना(४) समुचित शब्दों, पदों और रूपकादि अलंकारों का प्रयोग (५) सुव्यवस्थित भव्यरचना । इनके अनुसार उदात्त के कुछ बाधक तत्व भी हैं जैसे (१) शब्दाडम्बर(२) सस्तापन(३) आवेग प्रदर्शन (४) अनुष्णता (५) नवीनता का आग्रह आदि । इन सब तत्वों का परित्याग ही उचित है । काव्य के गुणों के साथ-साथ काव्य के दोषों का भी विवेचन किया है ।

अलंकारों का भी सुन्दर विवेचन किया है । इनके अनुसार अलंकारों के प्रकार इस प्रकार से हैं -
विस्तारणा, शपथोक्ति, प्रश्नालंकार, विपर्यय, व्यतिक्रम, पुनरावृत्ति, छिन्न वाक्य, प्रत्यक्षीकरण, संचयन, सार, परिवर्तन और पर्यायोक्ति आदि । उनकी धारणा है कि इन सब अलंकारों का उदात्त शैली के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान है ।

अलंकार योजना तभी सार्थक होती है यदि वह विषय, संदर्भ और शैली के अनुरूप हो । अनावश्यक अलंकारों के प्रयोग से वे अपनी महत्ता खो बैठते हैं । उनका प्रयोग सहज और स्वाभाविक होना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त उन्होंने कला के आधारभूत सिद्धान्तों जैसे शैल्पिक परिशुद्धता और प्रतिभा, कला और नैतिकता आदि की भी चर्चा अपने काव्य में की ।

इस प्रकार से लौंजाइनस ने अपने समय में बहुत सी नयी स्थापनाएँ प्रस्तुत की । परन्तु उनका मूल्यांकन बहुत समय के बाद में हुआ ।

नव्य प्लेटोवाद :

पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र के विकास में रोम के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लोटिनस (२०५-२७० ई०) का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है । यह प्लेटो से बहुत प्रभावित थे । इन्होंने प्लेटो के सिद्धांतों और कृतियों का प्रचार करने का बहुत प्रयास किया। सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में नव्य प्लेटोवाद की शुरुआत की । इनकी मान्यता थी कि खण्ड सत्य के अनेक रूपों का स्रोत एक अखण्ड परम सत्य है । इसी सिद्धान्त के अनुरूप उन्होंने अपने सौंदर्य सम्बंधी सिद्धान्त की विवेचना की । सौंदर्य की चर्चा करते हुए उन्होंने उसके गुण भास्वरता पर सबसे अधिक जोर दिया तथा उसकी सुन्दर परिभाषा प्रस्तुत की । प्लोटिनस ने अन्विति को ही सत्ता का लक्षण माना है तथा इसका विधायक घटक 'आदर्श रूप' को माना है । उनकी मान्यता है कि सौंदर्य का निवास इसी अन्विति में होता है । कलाकार को सौन्दर्य का निर्माता माना है ।

सेण्ट आगस्टाइन(३५३-४३० ई०):

सेण्ट आगस्टाइन ने भी प्लोटिनस की तरह सौंदर्य का निवास अन्विति

में ही स्वीकार किया है। इन्होंने कला में कुरूप को भी स्थान दिया है। उनकी मान्यता है कि कुरूपता सौंदर्य को प्रमुख बनाने में सहायक होती है। इसके द्वारा उसकी प्रभावशीलता और भी बढ़ जाती है।

सैण्ट थॉमस एक्वीनस(१२२७-१२७४ ई०) :

सैण्ट थॉमस एक्वीनस ने सौंदर्य के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं तथा पूर्णता या अखण्डता और संगति या सामरस्य आदि सौन्दर्य की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है।

सौंदर्यशास्त्र की बुद्धिवादी धारा :

सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में एक नई बुद्धिवादी विचारधारा का प्रचलन हुआ। देकार्त, बोइलो और लाइबनित्स इसी धारा के विचारक हैं।

देकार्त (१५९६-१६५० ई०) :

देकार्त इसाई थे। इसलिए दार्शनिक सिद्धांतों के प्रतिपादन में बाइबिल से प्रभावित दिखायी पड़ते हैं। परन्तु देकार्त बुद्धिवादी विचारक थे। यही कारण है कि इनके विचारों पर इस बुद्धिवादी विचारधारा का पर्याप्त प्रभाव दिखायी पड़ता है। इनकी धारणा है कि किसी भी वस्तु या विषय से हमें आनन्द म की अनुभूति होती है क्योंकि अपनी बुद्धि या चेतना को इस बात का ज्ञान हो जाता है कि अमूक वस्तु या विषय हमारी सर्वोत्तम सम्पदा है। इसके अतिरिक्त इन्होंने कलात्मक आनन्द और विशुद्ध बौद्धिक आनन्द में अन्तर स्वीकार किया है। देकार्त के विचारों का प्रभाव बाद के विचारकों पर भी पड़ा।

बोइलो(१६३६-१७११ ई०) :

बोइलो ने काव्य रचना में साहित्यिक नियमों का पालन करने पर जोर दिया। १६७३ में बोइलो की 'ल आर्त वोएतिक (काव्यकला) नामक ग्रंथ प्रकाशित

हुआ । इसके चार अध्याय हैं जिसमें काव्य कला के सिद्धान्तों, ग्राम्य काव्य, काव्यगीत, चतुर्दशपदी, गीतिकाव्य आदि के विविध रूपों, नाट्यकाव्य, महाकाव्य का विवेचन किया है । लोंजाइनस का ग्रंथ 'आन द सब्लाइम' (काव्य में उदात्त तत्व) का फ्रेंच में अनुवाद किया । इन्होंने कविता के लिए नैतिक प्रयोजन का होना जरूरी बतलाया है । उनकी धारणा थी कि कविता के विषय का चुनाव इस प्रकार से करना चाहिए कि इस उद्देश्य की पूर्ति हो सके । भाषा के प्रति सावधानी बरतने पर भी जोर दिया ।

लाइबनित्स(१६४६-१७१६) :

लाइबनित्स का विचार है कि कलात्मक आनन्द के चार सोपान होते हैं । इन्होंने व्यक्तिगत और सार्वभौम समरसता में पर्याप्त अन्तर स्वीकार किया है ।

आंग्ल अनुभववादी सौंदर्यशास्त्र :

देकार्त, बोइलो और लाइबनित्स ने जहाँ बुद्धिवादी विचारधारा का सूत्रपात किया वहीं इसके विपरीत सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैंड में हाब्स, लॉक और ह्यूम इत्यादि दार्शनिकों ने अनुभववादी परंपरा की शुरूआत की ।

जॉनलॉक(१६३२-१७०४ ई०) :

जॉन लॉक के विचारों ने सबसे अधिक प्रभावित किया । इनकी धारणा है कि सौंदर्य तत्व एक मिश्रित ज्ञप्ति है जिसकी गणना एक मिश्रित प्रकार के अंतर्गत की जा सकती है । इन्होंने सौंदर्य को विभिन्न रंगों और आकारों का एक ऐसा मिला-जुला रूप माना है जो दर्शक में आनन्द उत्पन्न करता है ।

एडिसन(१६७२-१७११ ई०) :

एडिसन पर सत्रहवीं शताब्दी के मनोविज्ञान के सिद्धान्त का प्रभाव था ।

इन्होंने मनोविज्ञान की उपलब्धियों की सहायता से कला और काव्य की विस्तार से चर्चा की । वैसे देखा जाए तो इन्होंने कुछ भी नया प्रस्तुत नहीं किया । अपने पूर्ववर्ती और समकालीन विद्वानों की मान्यताओं को ही दुहराया है । परन्तु उन्होंने उन सब को इस रूप में प्रस्तुत किया कि उन्हीं की मौलिक देन स्वीकार कर लिया गया । एडिसन के अनुसार काव्य का लक्ष्य है कल्पना को प्रभावित करना। एडिसन का विचार है कि चक्षु इन्द्रिय ही एक ऐसी इन्द्रिय है जो हमारी कल्पना को विचारों से भर देती है । इन्होंने कल्पनात्मक आनन्द के दो रूप माने हैं । पहला प्राथमिक आनन्द है जो कि वस्तु के प्रत्यक्ष दर्शन से उत्पन्न होता है और दूसरा आनन्द माध्यमिक आनन्द है जो कि परोक्ष अनुभूति से उत्पन्न होता है । किसी वस्तु की स्मृति, अनुमान आदि के द्वारा इसी आनन्द की प्राप्ति होती है । इसी माध्यमिक आनन्द से कला और साहित्य का सम्बन्ध होता है ।

एडमण्ड बर्क(१७२६-९७ ई०) :

पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में बर्क का नाम बहुत ही महत्वपूर्ण है । इंगलैंड में सौंदर्य तत्व पर विचार करने वालों में अग्रणी था । इन्होंने प्रथम बार अभिरुचि की आधुनिक परिभाषा प्रस्तुत की । इन्हीं का आधार ग्रहण करके बाद में जर्मनी के काण्ट ने अभिरुचि की विस्तार से चर्चा की । दूसरा महत्वपूर्ण कार्य उदात्त की अनुभूतिपरक व्याख्या प्रस्तुत करना है ।

जर्मन प्रत्ययवाद और सौंदर्यशास्त्रीय संयोजन :

जर्मनी के अलेक्जेण्डर बाउमगार्टेन (१७१४-६२) इसके पहले विचारक हैं । इनका महत्व इसलिए है कि इन्होंने पाश्चात्य कलाशास्त्र में पहली बार प्रतिपादित किया था कि कला का एक स्वतंत्र महत्व है और कला की समस्याएँ एक भिन्न विज्ञान का विषय है । १७५० ई० में इनका 'एस्थेटिक' नामक ग्रन्थ प्रकाशित

हुआ और इसी से सौंदर्यशास्त्र विषय का नामकरण हुआ ।

गाटहोल्ड इफेन लेसिंग(१७२९-८१ ई०) जर्मनी के प्रसिद्ध आलोचक थे । डॉ० भगीरथ दीक्षित ने इन्हें जर्मनी के आधुनिक साहित्य का जन्मदाता और स्वातन्त्र्य-विधायक कहा है ।[३८] डॉ० जगदीशचन्द्र जैन ने इन्हें आधुनिक जर्मन साहित्य का प्रतिष्ठाता कहा है जिसने जर्मन विचारधारा को फ्रांस के नव्यशास्त्रवाद से मुक्त करवाया था ।[३९] इन्होंने ललितकलाओं का गहरा अध्ययन किया था तथा कला सम्बंधी सिद्धांत भी स्थिर किया था जो कि बहुत ही महत्वपूर्ण है । १७६६ ई० में इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लाओकून' (Laocoon) प्रकाशित हुआ । इस ग्रंथ में इन्होंने विभिन्न कलाओं सम्बंधी अपने मत को स्पष्ट किया है तथा इन कलाओं के आपसी और उनके भेदों का भी विवेचन किया है । 'लाओकून' में 'चित्रकला और कविता की सीमाएँ' नामक एक उपशीर्षक भी है जिसमें उन्होंने कविता और चित्रकला के विषय में चर्चा करते हुए दोनों में अन्तर माना है । उनकी मान्यता है कि चित्रकला नेत्र ग्राह्य कलाओं का प्रतिनिधित्व करती है जबकि काव्यकला श्रवण ग्राह्य कलाओं का । इसके अतिरिक्त कवि और चित्रकार के क्षेत्रों की चर्चा भी उन्होंने की है ।

काण्ट (१७२४-१८०४ ई०) :

जर्मनी के दार्शनिक कांट ने भी पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र के विकास में अपना योगदान दिया है । सौंदर्यशास्त्र को दर्शन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान दिलवाने का श्रेय काण्ट को ही जाता है । इन्होंने 'निर्णय-मीमांसा' नामक ग्रंथ में सौंदर्य कला और अभिरुचि के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की है । अनुभववादी विचारधारा और बुद्धिवादी विचारधारा का समन्वय करने का प्रयत्न किया ।

अन्य विचारक श्लेगेल(१७७२-१८२९ ई०) हैं । इन्होंने रोमेन्टिसिज्म और क्लासिसिज्म पर विस्तार से चर्चा करते हुए दोनों के अन्तर पर भी विचार किया

है । इन्होंने पहली बार इस बात की जानकारी दी कि क्लासिक क्या है ? और रोमाण्टिक शब्द का निर्माण किया और उसकी सुन्दर परिभाषा भी दी ।

जर्मनी के प्रसिद्ध कवि, नाटककार और दार्शनिक शिलर(१७५६-१८०५ ई०) और जर्मनी के महान समीक्षक गेटे(१७४६-१८३२ ई०) ने भी काण्ट द्वारा प्रस्तुत किए विचारों का ही समर्थन किया । काण्ट के विचारों में थोड़ा सा परिवर्तन करते हुए उन्हें विकसित किया ।

पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र के विकास में सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हेगेल(१७७०-१८३१ ई०) ने अपना योगदान प्रदान किया । इन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से कला के युगों का विभाजन किया तथा ललित कलाओं के तत्वों के आधार पर कला सम्बंधी सिद्धान्त की रचना भी की । हेगेल कला और सौंदर्य में भेद मानते हैं ।

बीसवीं ~~सताब्दी~~-:शताब्दी : कलावादी सौंदर्यशास्त्र :

बीसवीं शताब्दी में क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के परिणामस्वरूप कलावादी नाम से नई विचारधारा की शुरूआत हुई ।

बेनेदेतो क्रोचे (१८६६-१९५२ ई०) एक महान दार्शनिक था उसने सौंदर्यशास्त्र को आचारशास्त्र, अर्थशास्त्र और तर्कशास्त्र से अलग अस्तित्व प्रदान किया । क्रोचे ने १९०० ई० में नेपुल्स की ऐकेडेमिया पोन्तानिआना के समक्ष एक निबन्ध प्रस्तुत किया जो अभिव्यक्ति तथा सामान्य भाषा-विज्ञान का शास्त्र के रूप में सौंदर्य सम्बंधी मौलिक सिद्धान्त था । परन्तु १९०२ ई० में यह निबन्ध 'ऐस्थेटिक' (सौंदर्यशास्त्र) नाम से पुस्तक के रूप में छपा । क्रोचे ने काव्य और कला के क्षेत्र में अभिव्यंजनावाद(expressionism) की शुरूआत की । इन्होंने काव्य और कला पर चर्चा करते हुए बहुत विस्तार से अभिव्यंजनावाद पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं ।

क्रोचे ने कलानुभूति में कल्पना के महत्व को स्वीकार किया है। इनकी मान्यता है कि कला कलाकार की एक आत्मिक क्रिया है। इस आत्मिक क्रिया का बाह्य स्थूल जगत से कोई भी सम्बंध नहीं होता। मानव आत्मा की क्रियाओं को उन्होंने दो भागों में विभक्त किया है (१) सैद्धांतिक(२) व्यवहारिक। सैद्धांतिक क्रिया के दो भेद माने हैं (१) स्वयं प्रकाश ज्ञान या प्रातिभ ज्ञान (२) तर्क ज्ञान। क्रोचे ने कला का सम्बंध इसी स्वयं प्रकाश ज्ञान से माना है। इस ज्ञान की प्राप्ति कल्पना के द्वारा होती है। उन्होंने प्रातिभ ज्ञान और अभिव्यंजना को पर्याय माना है। क्रोचे ने कला के वर्गीकरण को स्वीकार नहीं किया, उनका मत है कि कला का विभाजन करने वाली सभी पुस्तकों को जला देना चाहिए।[४०]

क्रोचे ने जिस कलावाद नाम से नयी विचारधारा की शुरुआत की थी बाद में रोजर फ्राई, क्लाइव बेल, ए०सी० ब्रेडले, वाल्टर पेटर और आर० जी० कालिंगवुड आदि विचारकों ने इसका प्रचार किया।

वाल्टर पेटर(१८३९-९४ ई०) ने 'कला कला के लिए' सिद्धांत का विवेचन विस्तार से किया। इसीलिए इन्हें इस सिद्धान्त का विवेचन करने वालों का अग्रणी माना जाता है।

रोजरफ्राई ने अपनी पुस्तक 'विजन एण्ड डिज़ाइन' (Vision & design) में कलावादी सिद्धान्त की विवेचना की।

डॉ० ए०सी० ब्रेडले(१८५१-१९३५ ई०) ने वाल्टर पेटर, रोजरफ्राई के समान 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का ही समर्थन किया। ब्रेडले ने आक्सफोर्ड लैक्चर्स आन पोएट्री (१९०९ ई०) नामक पुस्तक में कलावादी सिद्धान्त की चर्चा की है। कला के सिद्धान्त के सादृश्य में ही ब्रेडले ने 'कविता के लिए कविता' (Poetry for poetry sake) नामक सिद्धान्त प्रस्तुत किया तथा इसकी व्याख्या

की । जिसमें उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि कविता को कविता के आधार पर ही परखना चाहिए । ब्रेडले ने शुद्ध कविता की अवधारणा की चर्चा करते हुए विषय और रूपविधान को पृथक-पृथक स्वीकार किया है इसके अतिरिक्त इन्होंने अन्य प्रश्नों पर भी अपने विचार प्रस्तुत किए हैं जैसे किन विषयों पर कविता लिखी जाती है और किन पर नहीं ? इन्होंने कविता को चित्रकला और संगीत से अलग नहीं माना है । उन्होंने उसी कविता को श्रेष्ठ माना है जिसमें बहुत सारे संकेतों की सूचना रहती है ।

बीसवीं शताब्दी : प्रकृतवाद :

इंगलैंड के आई० ए० रिचर्डस की गणना प्रसिद्ध काव्य शास्त्रियों में होती है । १९२६ ई० में 'साइन्स एण्ड पोयट्री' (Science and Poetry) नामक पुस्तक प्रकाशित हुई । इसमें इन्होंने कविता की परिभाषा, उसकी उपयोगिता तथा वैज्ञानिक सत्य से उसकी भिन्नता आदि पर विचार किया है । रिचर्डस ने कविता पर मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार किया है । १९२४ ई० में इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिजम' (साहित्यिक समीक्षा के सिद्धान्त) प्रकाशित हुई । इसमें इन्होंने काव्य और विज्ञान के भेद और उनके आपसी सम्बंधों पर विचार किया है । उन्होंने कला सम्बंधी अनेक प्रश्नों पर विचार किया है । इनकी मान्यता है कि कला एक मानवी व्यापार है जो मनुष्य को प्रभावित करता है ।

रिचर्डस ने सम्प्रेषण का भी विश्लेषण किया है । 'प्रिंसिपल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' में उन्होंने संप्रेषण का अर्थ, स्वरूप और उसके महत्व आदि पर भी विचार किया है । उन्होंने स्वीकार किया है कि कलाएँ मनुष्य की सम्प्रेषणीयता का उत्कृष्ट रूप होती हैं । इस प्रकार से सम्प्रेषण कला से बाह्य न होकर

उसका तात्विक धर्म है । 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को अमान्य घोषित किया है ।

जान ड्यूई अन्य प्रकृतिवादी विचारक हैं । इन्होंने सौंदर्यानुभूति की विस्तार से विवेचना की है । उन्होंने सौंदर्यानुभूति को जीवनानुभूति ही माना है । अमेरिका के कला सम्बंधी चिन्तन की परंपरा में ड्यूई को बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है ।

बीसवीं शताब्दी : सन्तुलन का प्रयास :

बीसवीं शताब्दी के मध्य तक प्रकृतवादी विचारधारा ने जोर पकड़ लिया था । उसके सामने प्रत्ययवादी विचारधारा और कलावादी विचारधारा तो धुंधली पड़ गयी थी उनका अस्तित्व समाप्त होता जा रहा था । परन्तु प्रकृतवाद ने भी कला और जीवन के सम्बंध में बहुत सी उलझने पैदा की इसलिए इसके अतिरिक्त अतिरेक को व्यवस्थित करने की आवश्यकता महसूस होने लगी । इस दृष्टि से सूज़न-लैंगर का बहुत महत्व है । उन्होंने अपनी पुस्तक 'फिलासफी इन ए न्यू की' में एक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया कि कला क्या सृजन करती है ? इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने अपनी पुस्तक 'फीलिंग एण्ड फार्म' (१९५३) और 'प्राब्लम्स आफ आर्ट' (१९५७) में दिया । इस प्रकार से उन्होंने कला को दुबारा से प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया ।

इस प्रकार से पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र की परंपरा बहुत ही पुरानी और लम्बी है । इसके विकास में महान विचारकों का योगदान रहा है ।

सौंदयानुभूति और रसानुभूति में अन्तर :

सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति में पर्याप्त अन्तर है । पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र में 'सौंदर्य' को कला का मूल तत्व स्वीकार किया गया है । भारतीय काव्यशास्त्र

में 'रस' को काव्य का मूल तत्व माना है । कलाओं की रूप कल्पना से प्राप्त ग्राहक की रूप०कल्पना०से अनुभूति को सौंदर्यानुभूति कहा जाता है । इसी प्रकार काव्य साहित्य की अनुभूति को भारतीय विचारकों ने रसानुभूति कहा है । रामदहिन मिश्र जी सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति के अन्तर को इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं 'अन्यान्य अन्यान्य कलाओं से हममें रसानुभूति नहीं, बल्कि सौंदयानुभूति होती है । सौंदर्यानुभूति हमें मुग्ध कर सकती है, पर उसका स्थायी प्रभाव हमारे हृदय में नहीं होता, क्योंकि भाव-तन्मयता की शक्ति उसमें नहीं होती । काव्य की जो शक्ति अपनी अभिव्यक्ति से हमें आकर्षित और अधिक काल के लिए प्रभावित करती है, वह उसकी भाव-विदग्धता या रसानुभूति है । कविता को केवल सुन्दर बनाना उसका महत्व नष्ट करना है । कवि या पाठक जो सुन्दरता पर मुग्ध होते हैं, वह उसका बाह्य गुण है जिस पर पाश्चात्य समीक्षक मुग्ध हैं, और उसी को सर्वेसर्वा मान बैठे हैं ।'[४१] डॉ० एस० टी० नरसिंहाचारी इन दोनों के अन्तर के विषय में लिखते हैं कि -' सौंदर्य का सिद्धान्त व्यक्त रूप के आकर्षण को लेकर वस्तुनिष्ठ दृष्टि से उनकी अनुभूति के रहस्य का उद्घाटन करता है । रस सिद्धान्त अव्यक्त या अमूर्त भावना को लेकर व्यक्तिनिष्ठ में अनुभूति की विशेषता का निरूपण करता है । पाश्चात्य सौंदर्यशास्त्र और समीक्षाशास्त्र कवि कर्म, काव्य और अनुभूति की ओर प्रस्थान करते हैं, सर्जनात्मक प्रक्रिया की दृष्टि से उनकी व्याख्या करते हैं । इसके विपरीत अलंकारशास्त्र का रस रससिद्धान्त, ग्राहक अनुभूति की दृष्टि से अभीष्ट काव्य व्यवस्था की ओर निर्देश करता है ।[४२]

इसके अतिरिक्त शुद्ध सौंदर्यानुभूति अधिक सूक्ष्म होती है जबकि रसानुभूति अधिक प्रत्यक्ष ।[४३]

इस प्रकार से सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति एक दूसरे से भिन्न हैं ।

--

सन्दर्भ :

१- Chambers Dictionary :Page 16

२- Encyclopaedia Britanica

३- Hegel : The Philosophy of Fine Art : page 2.

४- Croce : Aesthetic : Page 155

५- Monroe, C. Beardsley : Problems in the Philosophy of Criticism : Page 4-6

६- A Dictionary of Psychology : Page 10

७- Dr.K.C.Pandey: Comparative Aesthetics: Page 15

८- K.S.Ramswamy Shastri : Indian Aesthetics : Page-1

९- डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा : सौंदर्यशास्त्र : पृ० १०

१०- डॉ० रामविलास शर्मा : आस्था और सौंदर्य, पृ० १९

११- डॉ० नगेन्द्र : भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ४

१२- Charles Mauron : Aesthetics and Psychology : Page 18

१३- Bosanquet : A History of Aesthetic : Page 11

१४- वाचस्पति गैरोला : भारतीय चित्रकला, पृ० २८

१५- डॉ० फतहसिंह : भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका, पूर्वपीठिका ।

१६- डॉ० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र : पृ० ५

१७- Kuppo Swami Shastri : Highway and Byways of Literary critiasm in Sanskrit , Page-4

१८- S.K.De: History of Sanskrit Poetics: Page-3

१९- Dr.K.C.Pandey: Comparative Aesthetics Part-I,Page-1

२०- डॉ० कुमार विमल : सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व, पृ० ३६

२१- वही : पृ० ३९

२२- भरतमुनि : नाट्यशास्त्र, पृ० ७१
२३- अभिनवगुप्त : अभिनवभारती, पृ० २७२
२४- डॉ० नगेन्द्र : रस सिद्धान्त, पृ० ३०
२५- डॉ० निर्मला जैन : रस सिद्धान्त : और सौंदर्यशास्त्र , पृ० २८
२६- वही, पृ० ३५
२७- केशव : रसिकप्रिया : १।१२
२८- वही, १।१३
२९- कुलपति : रस रहस्य, छन्दसंख्या ३४
३०- महाकवि देव : भाव विलास ; पृ०७५
३१- रसलीन : रस प्रबोध : दोहा संख्या ८
३२- भिखारीदास : काव्य निर्णय, पृ० ६
३३- प्रतापसाहि : काव्य विलास, छंदसं० २२
३४- श्यामसुन्दरदास : साहित्यालोचन, पृ० ७०
३५- डॉ० निर्मला जैन : रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र,पृ० ४१
३६- डॉ० अरविंद पाण्डेय : पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृ० ५
३७- डॉ० पुष्पा बंसल : पाश्चात्य काव्यशास्त्र दृष्टि एवं दर्शन : पृ० ३४
३८- डॉ० भगीरथ दीक्षित : समीक्षालोक , पृ० ३७४
३९- डॉ० जगदीशचन्द्र जैन : पाश्चात्य समीक्षा दर्शन : पृ० २१६
४०- "All the works dealing with classifications and systems of the arts could be burnt without any loss what ever "

डॉ० जगदीशप्रसाद मिश्र : पाश्चात्य साहित्यशास्त्र, पृ० २९५ से उद्धृत ।
४१- डॉ० रामदहिन मिश्र : काव्यदर्पण, पृ० १२२-१२३
४२- डॉ० एस० टी० नरसिंहाचारी : सौंदर्यतत्व निरूपण,पृ० ४०
४३- वही, पृ० ४३